Chapter-1

" प्रथम - अध्याय "

"वैयक्तिक चेतना का स्वरूप"

प्रथम अध्याय

" वैयक्तिक चेतना का स्वरूप"

चेतना -

"चेतना" व्यक्ति विशेष में निहित वह परिमापक इकाई है, जो व्यक्ति, समाज तथा देश को गतिशीलता प्रदान करती है। वह एक ऐसी आन्तरिक जागृति है जिसके द्वारा व्यक्ति के क्रिया-कलापों, आचरणों, अभिवृत्तियों का नियमन होता है। "चेतना" के इसी स्वरूप को लक्ष्य करते हुए भारतीय व पाश्चात्य विद्वानों ने उसे विविध अर्थों में रूपायित किया है। सामान्यत: व्युत्पत्ति की दृष्टि से "चेतना" संस्कृत भाषा के "चेतन" शब्द से बना है। यह शब्द चेत् धातु में क्ति न् प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ- चेतनता[1], संज्ञा, जागृति, स्मृति, धी: मति, बुद्धि, ज्ञान[2] आदि से ग्रहण करते हैं। कुछ विद्वान इसे जीवनीशक्ति[3], चेत[4], विचार, सत्व एवं जीवंत के अर्थ में ग्रहण करते हैं। अंग्रेज़ी में "चेतना" का समानार्थी "कॉन्शसनेस्" (Conshiesness) शब्द है। दार्शनिक भाषा में इसे जागृतावस्था तथा ज्ञान बोध से जोड़ा गया है। पाश्चात्य विद्वान हैमिल्टन के अनुसार - "चेतना चिंतनशील प्राणी द्वारा अपने कार्यों अथवा प्रवृत्तियों की स्वीकृति है।"[5] चेतना को दर्शन से जोड़ते हुये "रीड" चेतना को मन की क्रिया स्वीकारते हैं -"चेतना दार्शनिकों द्वारा प्रयुक्त शब्द है, जो व्यक्ति के वर्तमान विचारों, उद्देश्यों और समान्यतया मन की समस्त वर्तमान क्रियाओं से सम्बद्ध तत्कालिक ज्ञान है।"[6]

1- चेतयतेऽनया इति। चित् संज्ञाने न्यासश्चन्येति-बुद्धि :- इति अमर कोश: (1-5-1)

2- ज्ञानात्मिका मनोवृत्तिरिति - श्री धरस्वामी - शब्द कल्पद्रुम-पृ0-459

3- भूतानामस्मि चेतना ॥ गीता - 10/22

4- बृहद् हिन्दी कोश - कालिका प्रसाद - पृ0 457

5- आक्सफोर्ड डिक्शनरी - वाल्यूम II - पृ0847

6- आक्सफोर्ड डिक्शनरी - वाल्यूम II - पृ0847

उनके अनुसार "चेतना" अन्त:क्रियाओं की स्वीकृति है और चैतन्य शक्ति, जागृति स्थिति तथा क्षमता है ।

पाश्चात्य विद्वानों की भाँति - भारतीय विद्वान भी "चेतना" को आन्तरिक जागृति तथा मानसिकता से सम्बद्ध करते हैं । वस्तुत: "चेतना" वहसज्ञान प्रक्रिया है जो मानव को कार्यों की ओर अभिप्रेरित करती है । प्रसिद्ध दार्शनिक श्री अरविन्द घोष "चेतना" को मौलिक मानते हुए कहते हैं -" चेतना एक मौलिक वस्तु है , वह सत्ता में एक मौलिक वस्तु है । चेतन की शक्ति, गति और प्रगति ही विश्व और जो कुछ उसमें है,उस सब को उत्पन्न करती है ।"[1] भारतीय चिन्तक "चेतना" को सूक्ष्म, स्वतंत्र, विकासशील एवं सर्वव्यापक मानते हैं ।[2] श्री अरविन्द घोष "चेतना" को "दर्शन" से सम्पृक्त करते हुए उसे "चेतन शक्ति" की संज्ञान देते हुए निरन्तर द्रव्य (नश्वर) से आत्मा (अनश्वर) की ओर विकासशील मानते हैं ।[3] इसी प्रकार संस्कृत आचार्यों ने भी "चेतना" को विवेक ,प्रज्ञा, सज्ञान क्रियाओं ,प्रेरणाशक्ति , ज्ञानमय प्रवृत्ति और संवेदनशीलता के अर्थ में ग्रहण किया है । शंकराचार्य - आत्मा के सच्चे स्वरूप बोध को "चेतना" मानते हैं ।[4] भारतीय मनीषी ज्ञानात्मक क्रियाओं को "चेतना" द्वारा संचालित मानते हैं ।[5] जो मानव के अन्तर्बाह्य जीवन में विद्यमान रहती हैं । "चेतना" विश्व व्यापक इकाई है -"यह प्रकाश , जो तुम्हारे अन्दर है, वह मेरे अन्दर भी है । यही नहीं वह तो समस्त ब्रह्माण्ड में है - कहीं व्यक्त है तो कहीं अव्यक्त ।"[6] साहित्यकार "चेतना" से अभिभूत होकर मानसिक

1- (उद्धृत) श्री अरविन्द का सर्वांग दर्शन - डा0 रामनाथ शर्मा - पृ0-93

2- चेतनं चैतन्यं विद्यतेऽस्य इति - आर्शआदिभ्यश्च - शब्द कल्प द्रुम- पृ0-460

3- डिवाइन लाईफ (प्रथम भाग) -श्री अरविन्द घोष - पृ0 - 103-104

4- तस्यामभिव्यक्तेन्द्रियवृत्तिः तप्त इव लौहपिण्डे ऽग्निरात्म(शब्दकल्प द्रुम-पृ0-459
चैतन्याभासरसविद्धा चेतना इति -शंकर भाष्यम्)

5- "ज्ञान क्रिये जगतकर्त्तौ दृश्येते चेतनाश्रये"-शब्द कल्प द्रुम-राजा राधा कान्तदेव-भाग-II,पृ0-46

6- आयाम - डा0 वीरेन्द्र सिंह - पृ0 130

और व्यावहारिक अनुभूतियों को केन्द्रित करता हुआ साहित्य का नव-सृजन करता है । और उसकी रचनाओं से प्रस्फुटित होता "चेतना" का आलोक आनादि काल से अनवरत पथ प्रदर्शक बनता रहा है -" मैं अनादि काल से अजैव और जैव जगतों में अनेक रूपों में संघर्ष करती रही हूं और आज इस स्थिति पर पहुंची हूं कि तुम्हारी प्रेरणा को और भी अधिक गतिशील कर सकूं । मैं विकासशील हूं - प्रगति पथ की अन्वेषिका हूं ।"[1] निरन्तर प्रगतिशील यह "चेतना" व्यक्तिगत अनुभवों व विचारों से प्रभावित होती है - "चेतना का प्रभाव हमारे अनुभव वैचित्र्य से प्रभावित होता है । और चेतना की अविच्छित एकता हमारे व्यक्तिगत तादात्म्य के अनुभव से ।"[2] "चेतना" अपने विचार, लक्ष्य और निर्माण की अभिव्यक्ति में पूर्णतः स्वतंत्र होती है और मानवीय अभावपूर्ति का परिणाम होती है । डा० महावीर दाधीचि के शब्दों में "अभाव मानवीय चेतना के साथ ही उपजता है अर्थात् "चेतना" ही अभावग्रस्त है ।"[3] "चेतना" इच्छा स्वरूप भी होती है । यही कारण है कि वह व्यक्ति को इच्छा पूर्ति के लिए प्रेरित करती है -"जब तक मनुष्य में "इच्छाशक्ति" का आविर्भाव नहीं होता तब तक वह अचेतन मन के क्षेत्र में "चेतना" के तेजोप्रधान आलोक का अनुभव नहीं कर सकता ।"[4] डा० राम दरश मिश्र "चेतना" को देश, काल की परिस्थितियों में परिवर्तनशील ऐसी इकाई मानते हैं जो निरन्तर समाज व राष्ट्र को गतिशील बनाती है -"युगीन चेतना फैशनवश ओढ़ी हुई कोई चीज़ नहीं है,

---

1- आयाम - डा० वीरेन्द्र सिंह - पृ०-131

2- हिन्दी साहित्य कोश - कुमारी प्रीति अदावाल - पृ०- 289

3- अस्तित्ववाद - डा० महावीर दाधीच - पृ० - 81

4- आयाम - डा० वीरेन्द्र सिंह - पृ०- 217

वह ऐतिहासिक संदर्भ में पूरे समाज के जीवन मूल्यों व प्रणाली को प्रभावित करने वाली नवीन शक्ति है ।"[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि "चेतना" स्वंय में सूक्ष्म, अभावग्रस्त किन्तु स्वतंत्र होती है, जो प्रत्येक युग की अपनो निजी धरोहर के रूप में विद्यमान रहती है । वह तद्‌युगीन समाज के मूल्यों व परम्पराओं को प्रभावित करती है । "चेतना" वह जीवन शक्ति है जो व्यक्ति को व्यावहारिक या मानसिक रूप से जाग्रतकर उसे निरन्तर विकासशील बनाती है । इस प्रकार इसे एक ऐसी वैचारिक इकाई कह सकते हैं जो अवरूद्ध या अभावग्रस्त समाज को परिष्कृत कर उसे गति प्रदान करती हुई जीवन को उत्कर्ष की ओर ले जाती है । तात्पर्य यह है कि व्यक्ति की संवेतना ही "चेतना" कहलाती है ।

2-'वैयक्तिक-चेतना':-

'वैयक्तिक-चेतना' में व्यक्ति + चेतना इन दो शब्दों का योग है । जिसका तात्पर्य है - व्यक्ति की चेतना या व्यक्ति विषयक चेतना । इस प्रकार "वैयक्तिक चेतना" का भावार्थ हुआ - व्यक्ति की स्वतंत्र इकाई कीचेतना और समाज की आंशिक । "वैयक्तिक चेतना" व्यक्तिगत अन्त:-प्रक्रिया है । वह व्यक्ति में निहित, व्यक्ति से सम्बन्धित , अन्त: मन या अन्तर्भूत में सतत् गुज़रने वाली प्रक्रिया है जो मानव जाति में सामूहिक या सार्वजनिक नहीं होती । सार्त्र ने कहा है - "मनुष्य वह है जो अपने आपको बनाता है । "[2] और "वैयक्तिक चेतना" के मूल में यही तथ्य है । किन्तु व्यक्ति को विकासोन्मुख करती हुई, उसे स्वतंत्रता प्रदान करती हुई भी यह समाज विरोधी नहीं होती । अत: स्पष्ट हो जाता है कि

1- आज का हिन्दी साहित्य- संवेदना और दृष्टि = डा0 रामदरश मिश्र,पृ0-11

2- -240

"वैयक्तिक चेतना" व्यक्ति के व्यक्तित्व में निहित मानवता को संकीर्ण भावना से मुक्त कर उसे विस्तृत आयाम प्रदान करती है । और व्यक्ति विशेष की अभिलाषाओं, अभिवृत्तियों, संकल्पों, आकांक्षाओं, आवश्यकताओं तथा संवेदनाओं व प्रतिमानों को निर्धारित करती है । और यही उसका आन्तरिक धर्म भी है । डा0 धर्मवीर भारती के शब्दों में -"यह वैयक्तिकता व्यक्ति का आन्तरिक धर्म है, विकासोन्मुख सृजनात्मक वृत्ति है, जो स्थायी व्यापक मानवीय मूल्यों को उनकी सम्पूर्णता में पहिचान कर, उन्हें दायित्व के रूप में स्वीकार करके अपने व्यवहार को मर्यादित करती है ।"[1] वैयक्तिक स्वातंत्र्य की भावना सामाजिक मूल्यों एवं राष्ट्रीय चेतना को विकासशील करती है । इसीलिए मानवीय जीवन और उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए वैयक्तिक मूल्यों का होना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि उसकी निजी कुछ ऐसी आकांक्षायें और आवश्यकतायें होती हैं जिनकी पूर्ति समाज में रहकर भी स्वतंत्र रूप से करना चाहता है । इस प्रकार "वैयक्तिक चेतना" ही युगानुरूप जीवन मूल्यों का निर्माण और विकास करती है । "मानवीय चेतना ऐसे मूल्यों को खोजती है, जिससे यथार्थ का निर्दोष तादात्म्य हो, जिसे पूर्ण सत्य अथवा सत् कह सकें, जिसका बोध एकान्तिक, आत्यान्तिक तृप्ति का हेतु हो ।"[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि "वैयक्तिक चेतना" स्वतंत्र, विकासोन्मुख तथा समाज व राष्ट्र की हितैषी होती है और यहीं वह "व्यक्तिवादी" चेतना से भिन्न हो जाती है ।

"वैयक्तिक चेतना" व "व्यक्तिवादी चेतना" सामान्यतया समान प्रतीत होती हुई भी भिन्न भिन्न हैं । "व्यक्तिवादी चेतना" ऐक सीमित

1- सात गीत वर्ष - डा0 धर्मवीर भारती - पृ0 भूमिका से-
2- मूल्य मीमांसा - गोविन्द चातक - पृ0 78

मनोवृत्ति है , जो सामाजिक मूल्यों की अवरोधक होती है, क्योंकि वह "स्व" के दायरे में निबद्ध होती है । डा0 धर्मवीर भारती इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि -"वह (व्यक्तिवादी) सीमाबद्ध मनोवृत्ति है , जो असंस्कृत, असामाजिक, अंधप्रेरणाओं से या एक विशेष सामाजिक स्थिति के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया के रूप में हमारे व्यक्तित्व में उदित हो जाती है और हमें व्यक्तिगत स्वार्थों और सीमाओं की ओर उन्मुख करती है और "व्यक्ति चेतना" मूल्यों को उनकी समग्र सम्पूर्णता में पहचान कर उन्हें दायित्व के रूप में स्वीकार कर अपने व्यवहार को मर्यादित करती है ।"[1] श्री अरविन्द घोष "वैयक्तिक चेतना" को सामाजिक हित के अर्थ में स्वीकार करते हैं - "जैसे जैसे मानव का विकास होता है वह अधिकाधिक मुक्त होता जाता है परन्तु वैयक्तिक स्वतंत्रता सार्वजनीन हितों के विरूद्ध नहीं है ।"[2]

द्वितीय विश्वयुद्धोपरांत अस्तित्व में आई "अस्तित्ववादी" विचारधारा से भी "वैयक्तिक चेतना" मेल नहीं खाती । क्योंकि "अस्तित्ववाद" परिस्थितियों के धक्कों से टूटे, जर्जित ,निराश, दबे-घुटे व्यक्ति को सहानुभूति व संवेदना देता है - उसे जागृत अथवा विवेक शील नहीं बनाता[3]। अपने परिवेश की विषमताओं से टकराने के पश्चात् व्यक्ति आन्तरिक शून्य होकर बुद्धि तत्व से अत्याधिक सम्पृक्त हो जाता है । हृदय से विच्छेद होने पर उसे समस्त जगत उदास प्रतीत होने लगता है, व्यक्ति स्वंय को निष्क्रिय, निरर्थक समझने लगता है । सार्त्र इस स्वंय आरोपित निष्क्रियता को "चेतना का ह्रास" (डिग्रेडेशन आफ कॉन्शियसनैस" स्वीकार करता है ।[4] अत: स्पष्ट हो जाता है कि

1- सात गीत वर्ष - डा0 धर्मवीर भारती - पृ0 'भूमिका से'
2- (उद्धृत) श्री अरविन्द का सर्वांग दर्शन - डा0 रामनाथ शर्मा - पृ0 170
3- प्रेमचन्दोत्तर कथा - साहित्य में अस्तित्ववाद-डा0 शुकदेव सिंह -पृ0 40
4- द ऐनसाइक्लोपीडिया आफ फिलासफी - वाल्यूम-7

"अस्तित्ववादी" दर्शन निराश व्यक्ति का दर्शन है क्रियाशील व्यक्ति के उल्लास का नहीं। इसलिए यह "वैयक्तिक चेतना" से भिन्न हो जाता है।

अत: पूर्व विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि "वैयक्तिक चेतना" प्रत्येक व्यक्ति की निजी चेतना होती है जो उसे स्वतंत्र विकास हेतु प्रयत्नशील बनाती है। किन्तु सामाजिक मूल्यों अथवा दायित्वों के प्रति विद्रोही नहीं। यही विशेषतायें उसे "व्यक्तिवादी" तथा " "अस्तित्ववादी" विचार धाराओं से पृथक् करती हैं। "वैयक्तिक चेतना" देश व काल की परिस्थितियों के अनुरूप अपना स्वरूप बदलती रहती है। समाज में पहले "व्यक्ति चेतना" उद्भूत होती है, वही कालान्तर में "सामाजिक चेतना" के व्यापक क्षेत्र में विस्तार पा जाती है। वैज्ञानिक विकास, पाश्चात्य प्रभाव, अति बौद्धिकता आदि ने इसके परम्परागत स्वरूप को परिवर्तित कर दिया है। समाज की परिस्थितियों का प्रभाव साहित्य में "वैयक्तिक चेतना" का स्वरूप स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

साहित्य में प्रतिफलन :-

साहित्य को मानव-जीवन का दर्पण कहा गया है, किन्तु साहित्य मात्र दर्पण ही नहीं होता जिसमें तद्युगीन समाज का ज्यों का त्यों प्रतिबिम्ब उजागर हो। साहित्य अपनी कृतियों में कल्पना और यथार्थ के सामंजस्य द्वारा जीवन के विविध पक्षों में से कुछ नियोजित सोद्देश्य व्यापार ही उद्घाटित करता है। इसलिए साहित्य में जहाँ भूतकाल का दिक्दर्शन होता है वहीं भविष्य का दिशा बोध भी निहित रहता है। और तत्कालीन समाज के कार्य-कलापों, आचारों-विचारों, रीति-रिवाज़ों परम्पराओं व धारणाओं का चित्रण भी रहता है। साहित्य केवल व्यक्ति के मनोरंजन मात्र के लिए नहीं होता है अपितु समाज को "कान्तासम्मित

उपदेश" देकर सुमार्गगामी बनाता है । इसके साथ साथ पाठक, साहित्य में आत्मभिव्यक्ति और युगबोध को भी चाहता है । डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में -"शायद वह {पाठक} "जीवन की व्याख्या" चाहता है , शायद वह आत्मभिव्यक्ति चाहता है, शायद वह "स्पांटेनियस आउटबर्स्ट आफ पर्सनल फीलिंग्स" {"वैयक्तिक अनुभूतियों का स्वत: समुच्छित उच्छवास} चाहता है या शायद वह मानवता के अन्तस्तल में निहित एकता की उपलब्धि चाहता है ।"[1] तात्पर्य यह है कि सच्चे अर्थों में साहित्य वही है जो भावनात्मक उन्मेष, आनन्दानुभूति व समाज कल्याण की प्रवृत्तियों को भी उभारता है । डा0 गुलाब राय के शब्दों में -" व्यापक अर्थ में साहित्य एक ऐसी शब्द रचना मात्र का वाचक है जिसमें कुछ हित या प्रयोजन हो । और जो अपने रूढ़ अर्थ में काव्य या भावना प्रधान साहित्य का पर्याय हो ।"[2]

साहित्य का व्यक्ति से क्या प्रयोजन है ? यह एक उल्लेखनीय प्रश्न है । साहित्य तद्‌युगीण समाज से प्रभावित होकर सृजनशील होता है । इसलिए उसके अन्तर्गत समाज व व्यक्ति के कार्य-कलापों, रीति-रिवाज़ों आदि का चित्रण होता है । साथ ही उसमें उस युग की "चेतना" के स्वर भी ध्वनित होते हैं । वेद, उपनिषद् में तद्‌युगीन आध्यात्मिक चिन्तन पर आधारित "वैयक्तिक चेतना" परिलक्षित होती है तो मध्ययुग में कबीर , तुलसी की वाणी में समाजोन्मुख "वैयक्तिक चेतना" मुखर है । तुलसी ने "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं" का मंत्र फूंक कर सुप्त भारतीय जनता में स्वतंत्रता का मूल्य स्थापित करना चाहा । शनै: शनै: व्यक्ति पर केन्द्रित होती "वैयक्तिक चेतना" भारतेन्दु युगोपरांत के साहित्य में दृष्टिगोचर होती है, जो तत्कालीन

1- निबन्ध- साहित्य विचार में प्राचीन ग्रंथों का महत्व -डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी

2- {उद्धृत} कला एवं साहित्य प्रवृत्ति और परम्परा- प्रो0 शिवनाथ प्रसाद - पृ0 23

आधुनिक परिस्थितियों तथा पाश्चात्य प्रभाव की देन है । जिसका प्रतिबिम्ब सातवीं शताब्दी के पश्चिमी साहित्य में दृष्टिगोचर होता है ।

पश्चिम देशों में एक छत्र राज्य कर रहे पंडितों पादरियों के विरुद्ध आवाजें उठने लगी थीं- "मानव अपने आपको जीवन के उस कठोर संविधान से मुक्त कराना चाहता था जहाँ पंडित-पुरोहितों और सामन्तों का एक छत्र राज्य था ।"[1] और अठाहरवीं शताब्दी तक आते-आते "वैयक्तिक चेतना" के इस अंकुर ने साहित्य में वृक्ष का रूप धारण कर लिया । इस युग में आकर व्यक्ति की महत्ता प्रतिष्ठित हुई और जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति पर बल दिया जाने लगा । शैली की "डिफेंस ऑफ पोएट्री" कालरिज की "बायोग्राफिया लेटरेरिआ" आदि रचनाओं में "स्वच्छंदतावाद" का स्वरूप स्पष्ट: परिलक्षित होता है । पाश्चात्य देशों की इन परिवर्तनशील गतिविधियों का शनैः शनैः भारतीय साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा।

हिन्दी साहित्य में समाज की रूढ़ियों, जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं तथा सामन्तवादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह के स्वर "नवजागरणकाल" में गूंजने लगे । "अब वह सामन्ती विलासिता से पूर्ण आभिजात्य जीवन की अभिव्यंजना मात्र न रह गया, प्रत्युत पूरे युग की अनवरत वृद्धिशील आशा-आकांक्षाओं, शंकाओं और आपदाओं को चित्रित करने लगा । एक शब्द में, नये युग का साहित्य विविध और प्रजातांत्रिक होकर आता है ।"[2] इसी प्रजातंत्रीय मूल्यों से समृद्ध साहित्य में "वैयक्तिक

1- पाश्चात्य समीक्षा दर्शन - डा० जगदीशचन्द्र जैन - पृ० 136

2- हिन्दी साहित्य के विकास की रूपरेखा - डा० राम अवध द्विवेदी- पृ० 136

चेतना" के बीज विकसित हुये जिनकी अभिव्यक्ति के सुमन भारतेन्दु के नाटकों में कहीं राष्ट्रीय प्रेम, कहीं सामाजिक कुप्रथाओं के विरोध और कहीं नैतिक व सांस्कृतिक प्रेम के रूप में प्रस्फुटित हुये हैं। भारतेन्दु के "अंधेर नगरी" "भारत-दुर्दशा" आदि नाटक इसके प्रमाण हैं। द्विवेदी युग के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त ने "उर्मिला" चरित्र के माध्यम से व्यक्ति की महत्ता को स्थापित किया।

भारतेन्दु युग में "वैयक्तिक चेतना" की जो क्षीण धारा प्रवाहित हुई थी वह छायावादी साहित्य में आकर नदी के रूप में उन्मुक्त विचरने लगी। इस युग के साहित्य ने मुक्ति के लिए छटपटाते व्यक्ति के भावों को अभिव्यक्ति दी - "अत: व्यक्तिगत स्वाधीनता का उन्मेष छायावादी कविता का मुख्य स्वर है। रवीन्द्र के स्वच्छंदतावादी काव्य में भी "व्यक्ति-चेतना" की इसी मुक्ति की छटपटाहट है और छायावाद में भी।"[1] तद्युगीन साहित्यकारों ने व्यक्ति स्वातंत्र्य की नवीन चेतना से प्रेरित होकर जीवन को अवरूद्ध करने वाली सामाजिक जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों का विद्रोह किया। नारी के अस्तित्व को स्वीकारा। जय शंकर प्रसाद ने कहा -"तुम भूल गये पुरूषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की।"[2] "निराला" ने भी अपने खण्डकाव्य "तुलसीदास" में तत्कालीन भारत की दुर्दशा का वर्णन करके व्यक्ति को स्वतंत्र होने की प्रेरणा दी है।

छायावादोत्तर काल में व्यक्ति को वैज्ञानिक परिवेश,भौतिकवाद तथा यांत्रिकता ने पग-पग पर कुंठित ,अजनबी और अपमानित

1- हिन्दी समीक्षा : स्वरूप और संदर्भ - डा0 राम दरश मिश्र -पृ0-121

2- कामायनी : जयशंकर प्रसाद - पृ0-162

किया है । परिणामत: "वैयक्तिक-चेतना" की वह नदी परिस्थितियों से झुलस कर संकुचित हो "व्यक्तिवाद" की ओर अग्रसर होने लगी । "छायावाद का आरम्भ सामाजिक स्वाधीनता के लिए व्यक्ति के विद्रोह से हुआ, उसी का पर्यवसान समाज से व्यक्ति के पलायन में हुआ ।"[1] छायावादोत्तर साहित्य में "वैयक्तिक-चेतना" व्यक्ति के स्व-अस्तित्व बोध व अत्याधिक "अहम्" भाव से सम्पृक्त हो गई । प्रगतिवाद, नई कविता, साठोत्तर उपन्यास, समकालीन कहानी तथा साठोत्तरी नाटकों में यही "वैयक्तिकता" झलकती है । आधुनिक साहित्य में व्यक्ति की महत्ता इतनी मुखर हुई है जिसके समक्ष ईश्वरीय सत्ता गौण होती दिखाई देती है । डा0 धर्मवीर भारती ईश्वर को उसकी सम्पन्नता से च्युत कर उसे भिक्षुक घोषित कर स्वंय {व्यक्ति} को शरणदाता मानते हैं -"

उस दिन, मैं दूंगा तुम्हें शरण,
मैं जनपथ हूं, मैं प्रभुपथ हूं ।
मैं हूं जीवन । "[2]

{कौन चरण}

इसीलिए आज का व्यक्ति मुक्त होकर -"मैंने चुन लिया, मैंने स्वतंत्रता को चुन लिया"[3] ही की इच्छा करता है । आज उसके लिए समाज दो कौड़ी का भी नहीं है - "हमारा समाज बिकाऊ है - तीन सौ रूपये में हमारा समाज बिकाऊ है - कोई ग्राहक ? . . . .कौड़ी मोल का नहीं है हमारा समाज उसके तीन सौ रूपये ।"[4] इस प्रकार

1- छायावाद - डा0 नामवर सिंह - पृ0 131

2- सात गीत वर्ष = डा0 धर्मवीर भारती - पृ0 - 47

3- अपने अपने अजनबी - अज्ञेय - पृ0 123

4- शेखर एक जीवनी - अज्ञेय - पृ0 248

समाज के नियमों बंधनों से जकड़ा हुआ व्यक्ति अपनी मुक्ति के लिए छटपटा रहा है जिससे खुले वातावरण में सांस ले सके । आज वह स्वंय को समाज से महत्वपूर्ण और सार्थक मान बैठा है । यही कारण है कि उसकी निजी चेतना (वैयक्तिक चेतना) "स्व" के दायरे में सिमट कर रह गयी है और आधुनिक साहित्य में इसी "स्वपरक" "वैयक्तिक चेतना" का प्रतिफलन दृष्टिगोचर हो रहा है ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जिस-जिस युग-युग में "वैयक्तिक-चेतना" का जो जो रूप उभरता गया, साहित्य में उसके उसी स्वरूप का चित्रण मिलता है ।

वैयक्तिक चेतना :- भारतीय दृष्टिकोण

जैसाकि उल्लेख किया जा चुका है कि "वैयक्तिक-चेतना" व्यक्ति के जीवन के साथ ही अस्तित्व में आई और उसको उत्तरोत्तर विकासोन्मुख करती हुई आज तक अभिन्न रूप से जुड़ी हुई उसका मार्गदर्शन कर रही है । व्यक्ति की इस महत्वपूर्ण धरोहर ने भारतीय व पाश्चात्य चिन्तकों को अनेक कोणों से प्रेरित कर स्वंय व्यक्ति व समाज को गतिशील बनाया है । इसके द्वारा संचालित होकर दार्शनिकों, चिन्तकों और मनीषियों ने कभी जीवन-मृत्यु आदि के गूढ़ तत्वों के रहस्योद्घाटन हेतु समाज को त्याग "स्वंय" (व्यक्ति) की प्रतिष्ठा की तो कभी समाज कल्याण के मार्ग पर अपने शरीर की धूलि बिछाकर स्वंय को न्यौछावर कर दिया । इस प्रकार वैदिक काल से ही "वैयक्तिक चेतना" "पर" और "स्व" के मध्य झूलती आ रही है ।

वैदिक काल में "वैयक्तिक चेतना" से प्रेरित, ऋषियों, मुनियों और दार्शनिकों ने "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" और "सर्वे:सुखिन् भवन्तु" की कामना की "लोक कल्याण के लिए दार्शनिक चिन्तन करते थे"[1]

1- भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास - देवराज - पृ0 27

लेकिन उपनिषद् काल तक आते -आते व्यक्ति सामूहिक रूप छोड़कर "जातिगत वर्ग" की ओर उन्मुख हुआ । इस काल का व्यक्ति "आत्मनं विद्धि" आत्मा [स्वयं] को जानो के आधार पर अपना उत्थान "मोक्ष" प्राप्ति में ढूंढने लगा । गृहस्थाश्रम का त्याग कर वैराग्य की ओर उन्मुख हुआ और जन्म, मृत्यु, पुनर्जन्म आदि जटिल, रहस्यमय तथ्यों को सुलझाने का इच्छुक हुआ । इन सब के भूल में "वैयक्तिक चेतना" थी जो आध्यात्म का आवरण ओढ़े हुए थी ।

वेदकालीन कठिन आचार-विचार ,संयम, निग्रह तथा उपनिषद् काल की कठोर तपस्या ने व्यक्ति मन में विद्रोह के बीज वपन किये । इन बंधनों में बंधा व्यक्ति इनके विरूद्ध होता चला गया । "यावत् जीवेत् सुखम् जीवेत्" की भावना पर बल देकर चार्वाक दर्शन ने जीवन से ऊबे व्यक्ति को सुखवादी तथा भोगवादी दृष्टि प्रदान की । यहां "वैयक्तिक चेतना" ने अर्थ व काम की प्रमुखता सिद्ध कर दी । इस विचार धारा ने व्यक्ति को "मैं" तथा "अहम्" के भावों से सम्पृक्त किया जिसकी परिणति समकालीन युग में "व्यक्तिवाद" के रूप में दृष्टि-गोचर हो रही है । स्त्री-पुरूष स्वअस्तित्व, स्वाभिमान तथा स्व-विकास के लिए समाज से संघर्षरत हैं । अतः चार्वाक दर्शन के आधार पर "वैयक्तिक चेतना" ने पारलौकिक, आध्यात्मिक जैसी कल्पनाशील वस्तुओं को नकार कर ठोस यथार्थवादी तर्क दृष्टि दी तथा भौतिक और एन्द्रिय सुख के लिए व्यक्ति को प्रेरित किया ।

"गीता" ने समाज में व्याप्त आस्तिक और नास्तिक विचारों को सामंजस्य प्रदान किया । उसने मानव को "कर्म" के लिए प्रेरित किया और उसे ही कर्म के फलों का भोक्ता कहा । इसलिए उसने निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया । इस प्रकार "गीता" में निहित "चेतना" ने व्यक्ति

को व्यक्तिगत , सामाजिक लौकिक और पारलौकिक जीवन में सुख शान्ति तथा सन्तुष्टि की प्रतिष्ठा की ।

अत: स्पष्ट हो जाता है कि मध्य युग से पूर्व "वैयक्तिक चेतना" ने धार्मिक और आध्यात्मिक स्तर पर व्यक्ति व समाज को गतिशील किया । चार्वाक दर्शन ने वैज्ञानिक, यथार्थवादी तथा भौतिकवादी चिन्तन विकसित किये, जिसके आधार पर मध्यकाल में यथार्थ के ठोस धरातल पर व्यावहारिक चेतना को प्रमुखता मिली ।

मध्यकाल में "वैयक्तिक-चेतना" ने करवट ली और वह सुधारवादी दृष्टिकोण के साथ पुन: सामाजिकता की ओर अग्रसर हुई । अनवरत विदेशी आक्रमणों से त्रस्त, तलवार के बल पर नष्ट होते हिन्दू धर्म से भारतीय संस्कृति अँधेरे में घिरती जा रही थी । हिन्दूओं के आपसी वैमनस्य व जातिगत छूआछूत ने इस संकट को और भी अधिक विकट बना दिया । "जातियों की श्रेणियाँ और भी बढ़ गईं, अस्पृश्यता और छूआछूत के विचार और भी कड़े हो गये एवं शूद्रों और स्त्रियों का अनादर पहले से और भी अधिक हो गया । "[1] ऐसे अन्धकार मय, संज्ञाहीन काल में कबीर तथा अन्य सन्तों ने "वैयक्तिक चेतना" से प्रेरित हो समाज में समानता का डंका बजाया । उन्होंने हिन्दुओं तथा मुसलमानों में विद्यमान बाह्याडम्बर, जातिभेद तथा अन्य विभेदक तत्वों की घोर आलोचना की । कबीर ने "पत्थर" में ईश्वर ढूंढने के स्थान पर मानव धर्म का प्रचार किया । कोरे वेद, उपनिषदों के ज्ञान के बदले प्रेम, भाई चारे तथा मानवता का संदेश दिया -

"पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ,पंडित भया न कोय ।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय ।।

1- संस्कृति के चार अध्याय - दिनकर - पृ0 202

इस प्रकार कबीर ने "वैयक्तिक चेतना" के आधार पर हिन्दू और मुसलमानों- दोनों को सह अस्तित्व के भाव दिये और अव्यावहारिक, केवल मात्र शाब्दिक ज्ञान के स्थान पर व्यक्ति को व्यावहारिकता पर विचार करने को विवश किया ।

एक ओर कबीर ने स्पष्ट यथार्थ और ओज पूर्ण वाणी द्वारा जनता को जागृत किया तो दूसरी ओर तुलसी ने विनम्रता के साथ आदर्श जीवन जीने की कला का मर्म स्पष्ट किया । तुलसी ने सीधे-सीधे कहीं भी समानता की वकालत नहीं की है । जो कुछ उन्हें कहना था उसे उन्होंने बड़ी कुशलता एवं सूक्ष्मता से अपनी रचनाओं में व्यंजित कर दिया है । कहीं केवट -वसिष्ठ मिलन, के माध्यम से जातीय अहंकार को निस्सार कर दिया है कहीं शबरी के बेर खिलाये जाने प्रसंग के आधार पर ऊँच-नीच के भेद को नकार दिया है ।

मध्य युग के चिन्तकों , साहित्यकारों तथा सन्तों ने "वैयक्तिक चेतना" से प्रभावित होकर समाज को केन्द्र बिन्दु मानकर व्यक्ति को जागृत किया । किन्तु ज्यों ज्यों अंग्रेज़ी शासन अपनी जड़े जमाता गया और ईसाई धर्म व पाश्चात्य सभ्यता भारत में आने लगी, त्यों त्यों "वैयक्तिक चेतना" का क्षेत्र परिवर्तित होने लगा । तद्‌युगीन परिवेश में यद्यपि "वैयक्तिक चेतना" समाज से जुड़ी हुई थीं,तथापि वह उससे अलग होने की प्रक्रिया में संलग्न हो गयी थी । आधुनिक युग में राजाराम मोहन राय ने "वैयक्तिक चेतना" के आधार पर समाज को झकझोरा । उन्होंने व्यावहारिक व तर्कवादी दृष्टिकोण की नींव पर आधारित "वैयक्तिक चेतना" से प्रेरित हो पश्चिमी संस्कृति के वैज्ञानिक व भौतिकवादी स्वरूप को ग्रहण कर भारतीय धर्म व चिन्तन को नवीन भाव-भूमि दी । उन्होंने पूर्व पश्चिम से स्वच्छ एवं जीवंत तथ्यों को तर्क के

आधार पर ग्रहण कर हिन्दुत्व की रक्षा की । "बौद्धिकता के जनक के रूप में उनकी प्रतिष्ठा है ।"[1] वे व्यावहारिक स्तर पर अंग्रेज़ी शिक्षा का महत्व समझकर देश में पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना चाहते थे ,जिससे रूढ़ियों में जकड़े भारतीय जनमानस को अंधविश्वास, बहुदेववाद,धार्मिक बाह्याडम्बरों से मुक्त कर नये चिन्तन,नई विचार धारा से सम्पृक्त किया जा सके । इसलिए उन्होंने व्यक्ति मात्र के अस्तित्व को ध्यान में रखते हुए सती प्रथा, बाल-विवाह का विरोध कर अछूतोद्धार ,नारी शिक्षा, समानता आदि का समर्थन किया ।

देवेन्द्र नाथ ठाकुर और केशव चन्द्र सेन ने भी "वैयक्तिक चेतना" से प्रभावित होकर व्यक्ति कल्याण व उसके अस्तित्व को स्वीकारा[1]।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मुस्लिम व ईसाई धर्म के प्रहार सह रहे हिन्दू धर्म की रक्षा की । साथ ही हिन्दू धर्म में फैली जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं व अंधविश्वासों को दूर करने का प्रयास किया । उन्होंने हिन्दू धर्म के तिरस्कृत शूद्र वर्ग जो अन्य धर्मों में सम्मिलित हो गया था , उसका "शुद्धीकरण" द्वारा पुनरोद्धार किया । इसके साथ साथ नारी को शिक्षा तथा स्वतंत्रता के माध्यम से समानता के अधिकार दिलाने का प्रयास किया । इस प्रकार स्वामी जी ने धार्मिकता पर आधारित "वैयक्तिक चेतना" से प्रेरित होकर तत्कालीन समाज को परिष्कृत, प्रगतिशील करके नव जागरण के स्वर दिये ।

राजा राममोहन राय और महर्षि दयानन्द सरस्वती की भाँति रामकृष्ण परमहंस ने हिन्दुत्व की रक्षा करते हुए व्यक्ति मात्र को जागृति का संदेश दिया - "धार्मिक मतों, आचारों, पंथों तथा गिरजाघरों, मन्दिरों को महत्व मत दो । प्रत्येक मनुष्य में वास करने वाले चैतन्य

1- हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (नवम् भाग) - पृ0 5
2- हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (अष्टम भाग) - पृ0 12

तथा आत्मशक्ति की अपेक्षा इनका मूल्य कुछ नहीं है और जिस मनुष्य में जितनी ही आत्मशक्ति होगी, वह उतना ही जगत का कल्याण करेगा । "[1] यह आत्मशक्ति ही "वैयक्तिक चेतना" है जिसके आधार पर व्यक्ति स्वंय अपना विकास करते हुए समाज को गतिशील बनाता है । इनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने भी इसी आत्मशक्ति की ज्योति जगा कर मानवता, भाई-चारे व उदार भावना का प्रकाश न केवल भारतवर्ष में अपितु विश्वभर में फैलाया । नई पीढ़ी के प्रति उनका आग्रह कूप माडूकता को त्याग कर वास्तविक ज्ञान अर्जित करने से था । उन्होंने "व्यैक्तिक चेतना" की आधार भूमि पर दुर्बलों की रक्षा, न्याय, प्रेम, अत्याचार का विरोध आदि जन कल्याण हेतु संदेश दिये । जिनकी परिणति कालान्तर में स्व अधिकार रक्षा, स्व अस्तित्व बोध को जागृत कर कुप्रथाओं के प्रति विद्रोह के स्वर में हुई[2]।

इन समस्त समाज सुधारकों ने- धर्म में फैले आडम्बरों को दूर कर, मानवता के आधार पर अछूतोद्धार व नारीवर्ग को समानता के अधिकार दिलाने का अथक प्रयास किया । और स्पष्ट है कि इन सब के भूल में "वैयक्तिक चेतना" ही क्रियाशील थी, जो इस काल में सुधारवादी तत्वों से सम्पृक्त थी । किन्तु तिलक, गोखले तथा नेहरू जैसे इसकी आधार शिला पर देश प्रेम, देश कल्याण के स्वर मुखर किये । "तिलक" ने "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है" कहकर मानव अधिकार बोध की भावना प्रबल कर अंग्रेज़ी दासता के प्रति विद्रोह किया । महात्मा गांधी जी ने "व्यक्ति स्वातंत्र्य" नारी उत्थान, अछूतोद्धार आदि पर बल देकर

उद्धृत

1- व्यक्ति चेतना और स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास -डा० पुरूषोत्तम दुबे, पृष्ठ-102

2- आधुनिक भारतीय चिन्तन - डा० विश्वनाथ नरवणे - पृ० -43

आदर्शयुक्त चेतना के आधार बनाकर जनता का मार्ग प्रशस्त किया । मानव सेवा, त्याग, समानता, सत्य आदि मूल्यों के द्वारा मानव अस्तित्व को प्रतिष्ठित किया - "निराशा में डूबी जनता को उसने आशा दी, उसे संगठित होकर राजनैतिक एकता की शक्ति पहचानना सिखाया ।"[1] इस प्रकार उन्होंने व्यक्ति की शक्ति को पहचान कर उसका सहयोग प्राप्त कर अपने देश को स्वतंत्र कराया । उन्होंने इस तथ्य को जान लिया कि जनता जनार्दन का सहयोग मिले बिना उनके उद्देश्यों को सफलता नहीं मिल सकती । इसलिए उन्होंने किसान, मजदूर, हरिजन, अमीर-गरीब, नारी, छात्र सब को संगठित कर, उनके अन्तस्तल में छिपे ज्वालामुखी का साक्षात्कार करा अंग्रेजी राज्य को भस्म कर दिया । बीसवीं शताब्दी में महात्मा गांधी ने न केवल राजनैतिक आधार पर "वैयक्तिक चेतना" को महत्व दिया, अपितु सामाजिक, सांस्कृतिक पक्ष के आधार पर व्यक्ति के महत्व को स्वीकार कर उसे अत्याचारों के विरूद्ध शान्तिपूर्ण ढंग से विद्रोह करना सिखाया ।

इस प्रकार विभिन्न दार्शनिकों, चिन्तकों, समाज सुधारकों तथा राजनीतिज्ञों ने आध्यात्म, जन कल्याण तथा देश प्रेम के आवरण में लिपटी "वैयक्तिक चेतना" से प्रेरित होकर व्यक्ति, समाज व देश को विकासोन्मुख किया । बीसवीं शताब्दी में व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व को महत्व दिया जाने लगा । अंग्रेज़ों के सम्पर्क में आने से व्यक्ति नये भाव बोध व नये चिन्तन से जुड़ा । पाश्चात्य सभ्यता के आधार पर वह भौतिकता की ओर उन्मुख होता गया । सामूहिक हित कीभावना को त्याग कर "व्यक्तिगत" को संकीर्ण परिधि में सिमटता गया ।

1- प्रेमचन्द और उनका युग - डा० राम विलास शर्मा - पृ०-162

पाश्चात्य दृष्टिकोण :-

पूर्ववर्ती पृष्ठों में भारतीय दृष्टिकोण के विवेचन के पश्चात् "वैयक्तिक चेतना" से सम्बन्धित पाश्चात्य विद्वानों के मतों का सिंहावलोकन भी समीचीन होगा ।

प्राचीन काल से ही पश्चिमी दार्शनिकों, चिन्तकों एवं मनीषियों ने भी "वैयक्तिक चेतना" के अस्तित्व को स्वीकार कर उसे व्यक्ति व समाज के लिए आवश्यक तत्व माना है । "सोफिस्ट" ने मानव को सृष्टि का केन्द्र बिन्दु माना है । अच्छे, बुरे, शुभाशुभ फल, दुख ,सुख नीति-अनीति आदि को व्यक्ति से जोड़ा है क्योंकि इनकी प्राप्ति में वह स्वतंत्र प्रयास करता है । और यह स्वतंत्र प्रयास ही "वैयक्तिक चेतना" ~~से प्रेरित~~ का अभिन्न अंग है[1]। सुकरात ने "वैयक्तिक चेतना" से प्रेरित हो "अपनी आत्मा का उद्धार करो" का संदेश दिया । इन्होंने मानव को चिन्तन का केन्द्र माना है । मानव क्या है और उसका क्या बन सकता है ?[2] सुकरात ने प्रकृति तत्वों की अपेक्षा चेतन मानव को चिन्तन का आधार बना कर "व्यक्ति " की प्रतिष्ठा स्थापित की ।

सुकरात युगीन "व्यक्ति" की यह प्रतिष्ठा "प्लेटो" के युग में उत्तरोत्तर विकसित होती गई । व्यक्ति आन्तरिक शक्ति (वैयक्तिक चेतना) द्वारा प्रेरित हो अपने अधिकारों और न्याय के प्रति सजग होता जा रहा था । "वैयक्तिक चेतना" के विषय में "पलेटो" लिखता है कि

1- हिस्ट्री ऑफ फिलोसफी - जॉन लीवस् - पृ0 36

2- द स्टोरी ऑफ फिलासफी - विल ड्यूरॉण्ट - पृ9 -13 (1933)

व्यक्ति के जीवन में व्यक्ति व्यवहार के आधार पर पनपने वाली, व्यक्ति चेतना उसके इच्छा, मनोवेग या ज्ञान से प्रेरित होती है और यही उसके तीन प्रमुख स्रोत हैं । वह समाजगत जीवन या सामाजिक सुव्यवस्था के लिए व्यक्ति की सार्वभौमिकता के कुछ अंश के त्याग की अपेक्षा करता है । अन्त में व्यक्ति के आचरण की कसौटी ही, समूह के कल्याण, उसकी सुख-समृद्धि की कसौटी बन जाती है[1]। इस प्रकार प्लेटो "वैयक्तिक चेतना" के साथ साथ सामाजिकता को भी प्रमुखता देते हैं ।

अरस्तु ने व्यक्ति को समाज व राष्ट्र से सर्वोपरि स्थान देते हुए व्यक्ति की प्रतिष्ठा की[2]।

थामस हाब्स "वैयक्तिक चेतना" के आधार पर समाज को गौण और व्यक्ति को प्रमुखता देते हैं । समाज नामक संस्था व्यक्ति के अधिकारों के लिए है व्यक्ति समाज के लिए नहीं ।

रेने डेकार्टे एक दार्शनिक थे । अत: उन्होंने "वैयक्तिक चेतना" को आध्यात्म के आधार पर स्वीकार कर उसे दार्शनिक दृष्टि से परखा । वे व्यक्ति के दो भिन्न किन्तु मूल तत्व मानते हैं । प्रथम -सूक्ष्म तत्व अर्थात् मस्तिष्क जो विचारों का आधार स्तम्भ है, दूसरा स्थूल शरीर, अर्थात् भौतिक तत्व । इस प्रकार डेकार्टे व्यक्ति के मानसिक और भौतिक दो वर्ग मानते हैं कि व्यक्ति में जिस तत्व की प्रधानता होगी, उसकी "वैयक्तिक चेतना" उसी तत्व से प्रभावित होगी[3]। व्यावहारिक रूप से

1- दी स्टोरी ऑफ फिलॉसफी - विल ड्यूरॉण्ट - पृ0 18

2- हैंड बुक इन दि हिस्ट्री ऑफ फिलासफी -एल्वार्ट ई0अवे -पृ0-35

3- दी हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी - जॉन लेविस्ट - पृ0 91

डेकार्डे का तर्क न्याय संगत है । वैज्ञानिक परिवेश में व्यक्ति का भौतिक शरीर अधिक सक्रिय हुआ जिसका परिणाम उत्तरोत्तर में तीव्र होती भौतिक वादी वैयक्तिक चेतना केरूप में दृष्टिगोचर हो रहा है ।

जार्ज बर्कले "वैयक्तिक चेतना" से सम्पृक्त मानव मस्तिष्क के बाहर सृष्टि का अस्तित्व भी नहीं स्वीकारता[1]। इस प्रकार जार्ज बर्कले ने वैयक्तिक चेतना के आधार पर व्यक्ति की बौद्धिक स्वतंत्रता, "स्व" और "अहम्" की भावना को महत्व दिया ।

डार्विन ने "वैयक्तिक चेतना" के आधार पर ही व्यक्ति को निरन्तर विकासशील बताया है । वानर रूप में आदि मानव से निरन्तर विकसित होता व्यक्ति सृष्टि की उच्च तम उपलब्धियों को प्राप्त कर रहा है । "डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त ने तो मनुष्य के विचारों में अभूतपूर्व क्रान्ति उपस्थित कर दी ।"[2]

उन्नीसवीं शताब्दी में काल मार्क्स ने "वैयक्तिक चेतना" को वर्ग विशेष से सम्पृक्त कर विश्व को नया चिन्तन दिया । इनके चिन्तन का आधार समाज में मालिक और मजदूर ,ऊंच-नीच तथा शोषक-शोषित वर्ग के बीच असामनता को दूर करना है । "मार्क्स और एंगेल्स ने घोषणापत्र की समाप्ति इन वाक्यों से की - "कम्युनिस्ट क्रान्ति के भय से शासक वर्ग कांपे । सर्वहारा के पास अपनी जंजीरों के अलावा खोने को और कुछ नहीं है । पाने को सारी दुनिया है । सभी देशों के मज़दूरों, एक हो ।"[3]

1- व्यक्ति चेतना और स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास- डा0पुरुषोत्तम दूबे पृष्ठ- 23

2- पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र - जगदीश कुमार जैन - पृ0 279

3- भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद - डा0 रामविलास शर्मा -पृ0 27

इस प्रकार काल मार्क्स ने "वैयक्तिक चेतना" द्वारा संचालित होकर मजदूर वर्ग में आत्मसम्मान के भाव जागृत किये साथ ही शोषण के विरूद्ध संघर्ष की चेतना को बुलन्द किया ।

पाश्चात्य विद्वान बर्डेव ने वर्ग या समाज के स्थान पर व्यक्ति के महत्व को प्रतिपादित किया है । उन्होंने अपनी पुस्तक "क्रिश्चियन एग्जिस्टैंशियलिज्म" में व्यक्ति स्वातंत्र्य के विचारों को प्रतिपादित किया[1] ।

बीसवीं शताब्दी में सिग्मण्ड फ्रायड ने मनोवैज्ञानिकता से सम्पृक्त "वैयक्तिक चेतना" का नया पक्ष प्रस्तुत किया । फ्रायड ने मानव मन के चेतन और अवचेतन दो रूप स्वीकार किये हैं । चेतन मन मस्तिष्क की ऊपरी सतह है जो मानव व्यवहार को मर्यादित करती है और अवचेतन मन वह तहखाना है जहाँ मानव की काम वासनायें, यौन इच्छायें और दमित कुण्ठाएं दबी रहती हैं । व्यक्ति इन पर पूरी तरह से काबू नहीं पा सकता । इसलिए फ्रायड ने "काम" को व्यक्ति की आवश्यक व प्राकृतिक इच्छा कह कर उसे अन्य अनेक नैतिक बन्धनों से मुक्ति कर दिया ।

तत्पश्चात् एडलर और जुंग ने भी फ्रायडवादी मनोविज्ञान की कुछ भिन्न रूप से व्याख्या प्रस्तुत की । एडलर का मत है कि व्यक्ति के "स्व" की प्रतिष्ठा और दूसरों के "स्व" पर अपनी सत्ता जमाने की कामना रखना । इस सिद्धान्त के मूल में "अहम्वादी" भावना निहित है । जो "वैयक्तिक चेतना" का आधुनिक विकसित रूप है ।

अस्तित्ववादी चिन्तक सार्त्र व्यक्ति के अस्तित्व को अत्याधिक

1- कविता की चेतना - जगदीश कुमार - पृ0 25

महत्व देते हैं - "केवल मानव का ही वास्तव में अस्तित्व है।"[1] कामू ने समस्त संसार में केवल मनुष्य को ही अर्थवान् बताया है -"मनुष्य एक ऐसी चेतना है जो समस्त सत्य को अर्थ प्रदान करती है।"[2] इन अस्तित्ववादी चिन्तकों ने व्यक्ति के अस्तित्व को यथार्थ धरातल पर स्वीकार किया। इन्होंने समाज के समक्ष व्यक्ति को प्रमुखता प्रदान की। आधुनिक युग में वैयक्तिक चेतना के इसी तथ्य की महत्ता दृष्टि-गोचर हो रही है। समकालीन व्यक्ति अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु समाज से संघर्षशील है। कामू ने व्यक्ति के इस विद्रोह को आध्यात्मिक विद्रोह की संज्ञा दी है -"विद्रोही गुलाम का कहना है कि उसमें कुछ ऐसी बात है जिससे वह अपने मालिक के व्यवहार के तरीके को सहन नहीं कर सकता।"[3]

निष्कर्ष :-

पूर्ववर्त्ती पृष्ठों में "वैयक्तिक चेतना" विषयक भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिकों, चिन्तकों तथा विद्वानों के मतों का विश्लेषण किया गया। उक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि भारत में सदैव आध्यात्म पर बल दिया जाता रहा है। इसलिए यहाँ "वैयक्तिक चेतना" को उसी दृष्टिकोण से परखा गया। भारतीय दर्शनों में मोक्ष व पुनर्जन्म से सम्बद्ध करके सभी कार्य व्यवहारों का नियमन होता है। इसके साथ साथ आदर्श तथा नैतिकता पर भी अत्यधिक बल दिया जाता रहा है। इसलिए तद्युगीन परिवेश में

1- पाश्चात्य समीक्षा दर्शन - जगदीश चन्द्र जैन - पृ0 468
2- पाश्चात्य समीक्षा दर्शन - जगदीश चन्द्र जैन - पृ0 474
3- पाश्चात्य समीक्षा दर्शन - जगदीश चन्द्र जैन - पृ0 476

"वैयक्तिक चेतना" जो सामूहिकता पर आधारित थी । उपनिषद्‌काल में अपने स्वतंत्र अस्तित्व हेतु "विश्व बन्धुत्व" की भावना से संकुचित होकर "वर्गगत" घेरे में सिमटने लगी । सर्वप्रथम चार्वाक दर्शन ने आध्यात्म व पारलौकिक भावना को नकार कर विशुद्ध "अर्थ" व "काम" जैसे भौतिक तथ्यों को महत्व दिया । जबकि पश्चिमी विद्वान पुरा काल से ही "प्रकृति" व "मानव" को परलौकिक सत्ता से अधिक महत्व देते आये हैं । "प्लेटो" के अतिरिक्त सुकरात, अरस्तु आदि विद्वानों ने "मानव" को ही सर्वश्रेष्ठ घोषित कर "वैयक्तिक चेतना" को केवल व्यक्ति की ही धरोहर स्वीकार किया है । पाश्चात्य साहित्य में सातवीं-आठवीं शताब्दी में ही समाज के प्रति विद्रोह के स्वर मुखर होने लगे थे । तथा व्यक्ति अपनी मुक्ति के लिए छटपटाने लगा । जबकि भारत में अठाहरवीं-उन्नीसवीं शताब्दी तक व्यक्ति को साधन मान समाज को साध्य माना जाता रहा है । जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है कि आधुनिक "वैयक्तिक चेतना" जो वेद, उपनिषद् काल की चेतना सेभिन्न हैं, वह पाश्चात्य कीही देन है , जो भारत में अंग्रेज़ों के साथ अस्तित्व में आई । इसको कालान्तर में विज्ञान, शिक्षा तथा पश्चिमी सभ्यता ने अत्यधिक प्रभावित कर फलने-फूलने का अवसर प्रदान किया ।

5 - <u>वैयक्तिक चेतना-विविध पक्ष - वर्गीकरण :-</u>

पूर्ववर्त्ती विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है कि "वैयक्तिक चेतना" से प्रेरित होकर भारतीय व पाश्चात्य विद्वानों ने समाज व व्यक्ति को परिष्कृत करते हुए उन्हें गतिशील बनाया । "चेतना" मानव अस्तित्व बोध की वह परिमापक इकाई है जो दार्शनिक , मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक तार्किक दृष्टि के आधार पर परखी जा सकती है । अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर "वैयक्तिक चेतना" को निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है -

§1§ आदर्श चेतना -

§2§ यथार्थ चेतना -

§3§ व्यावहारिक चेतना -

§4§ भौतिक चेतना -

जैसाकि उल्लेख किया जा चुका है कि "चेतना" सतत: सृजनात्मक अभिवृत्ति है, ह्रासात्मक नहीं । इसे देश,काल की सीमा में निबद्ध नहीं किया जा सकता । परन्तु यह इनके अनुरूप परिवर्तित एवं विकसित होती रहती है । किन्तु यह सत्य है कि इसका विकास सामाजिक परिवेश में होता है । प्रत्येक राष्ट्र व समाज की संस्कृति की निजी विशेषताएं होती हैं, जो व्यक्ति को सुसंस्कृत करती हुई उसमें "चेतना" का सन्निवेश करती हैं । फलत: पारिवारिक,सामाजिक जीवन की परम्पराओं, मान्यताओं व धारणाओं में परिवर्तन होने लगता है । यहाँ भारतीय व पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विवेचित "वैयक्तिक चेतना" को उक्त वर्गीकरण को आधार पर समझने का प्रयास करेंगे -

<u>आदर्श चेतना</u> =

वैयक्तिक चेतना जब आदर्शयुक्त होती है तो व्यक्ति को समाज, देश व विश्व के प्रति निष्ठावान् बनाती है । साथ ही उसके कार्य-कलापों, संकल्पों व प्रतिमानों को नियमन भी करती है । "आदर्श" शब्द भारतीय है अँग्रेज़ी में जिसका समानार्थी "आईडियल" § IDL § शब्द है । जिसका अभिप्राय है "नमूना" "प्रतिरूप" या "दर्पण" । यह "आदर्श" शब्द "कैसा होना चाहिये" का द्योतक है । इसका तात्पर्य यह है कि आदर्श सद्गुणों से सम्पन्न मानसिकता है , जो जीवन की जटिलताओं से संघर्ष करते हुए व्यक्ति में आशा व उत्साह का संचार करती है । यह एक ऐसी प्राप्य कल्पना है जिसके मूल में वर्तमान से आगे

उन्नति करने की "चेतना" निहित होती है । "आदर्श का अर्थ एक ऐसी स्थिति या ऐसी अवस्था है जो हमें अप्राप्त है , पर जिसकी हम कामना करते हैं -----।"[1]

"आदर्श" असद्वृत्तियों का दमन कर सद्वृत्तियों को उभारता है । इसीलिए भारतीय दर्शन इसे आध्यात्मिकता से जोड़ते हैं । "आदर्शवाद की दृष्टि बौद्धिक है, किन्तु वह जीवन के सूक्ष्मतम मूल्य को अधिकतम महत्व देता है, वह आध्यात्मिक है । इसकी धारणा है कि आस पास जो दृश्यमान जगत है, वह किसी चेतन सत्ता की सृष्टि है ।"[2]

भारतीय साहित्य में प्रारम्भ से ही "आदर्शवादी चेतना" की ओर झुकाव रहा है । आदर्शहीन साहित्य न तो व्यक्ति को ही सही दिशा निर्देश कर पाता है और न समाज को । " भारतीय साहित्य में अतीतकाल से आदर्श की स्थापना ही प्रधान रही । इसके कई कारण रहे । पहला तो मुख्यत: यह कि हमारे यहाँ जीवन की इयत्ता भौतिकवाद से नहीं देखी गई । जीवन का उद्देश्य है सद्कर्म करना और लक्ष्य है अन्तत: आनन्द पाना ।"[3]

व्यक्ति में छिपी "आदर्श चेतना" उसे लोकमंगल की भावना की ओर प्रेरित करती है । इसीलिए भारतीय समाज में व्यक्ति के जीवन को आदर्शमय और सद्गुण सम्पन्न होना माना गया है । अन्यथा इसके अभाव में सामाजिक अव्यवस्था, जीवन-मूल्यों व धारणाओं में बिखराव तथा अविश्वास आदि अनेक विसंगतियां समाज में पनपने लगती हैं ।

1- हिन्दी उपन्यास - पहचान और परख - डा0 इन्द्रनाथ मदान -पृ0 13
2- हिन्दी कहानी में जीवन मूल्य - डा0 रमेशचन्द्र लवानिया - पृ0 5
3- {उद्धृत} प्रसाद साहित्य में आदर्श एवं नैतिक मूल्य - आचार्य उमेश शास्त्री,पृ0-90

तात्पर्य यह है कि "आदर्श हीन समाज में "सत्य" का बोध तो होगा, किन्तु वह शिव व सुन्दर नहीं होगा ।"[1]

वर्तमान जीवन अच्छाइयों के साथ साथ अनेक विषमताओं, विडम्बनाओं, असंगतियों-विसंगतियों से ग्रस्त हो गया है । वैसे तो सदैव ही जीवन सुन्दर-असुन्दर तत्वों से युक्त होता आया है किन्तु आधुनिक युग में यह द्वंद्व कुछ अधिक ही तीव्र होता जा रहा है । इसलिए "आदर्श चेतना" एक आवश्यकता बन गई है।

इस प्रकार " आदर्श चेतना" व्यक्ति को अनेकता से एकता के सूत्र में बांधती हुई मानवतावादी चेतना की ओर उन्मुख करती है । उसके चिन्तन एवं कार्य में तादात्म्य स्थापित कर, उसे स्वार्थ और संकीर्णता से मुक्त करके उसके विचारों को व्यापकता प्रदान करती है । "आदर्श चेतना" मानव मन में मातृ-भूमि के प्रति प्रेम, पुरूषार्थ, निर्भयता मैत्री, सद्भाव, विवेकशीलता, संकल्पशीलता, कर्तव्यनिष्ठा तथा त्याग भावना आदि का निर्मल स्रोत प्रवाहित करती है । इन सबके साथ-साथ मानव को विश्व शान्ति के लिए प्रेरित करती है ।

जब साहित्यकार सुन्दर तत्वों के साथ साथ असुन्दर तथ्वों का भी चित्रण करने लगता है तो "यथार्थ चेतना" मुखर होने लगती है ।

यथार्थ चेतना :-

"यथार्थ" शब्द "जो ऐसा है" का परिचायक है । यह सत्य या तथ्य (True or fact) को प्रदर्शित करने वाली ऐसी वास्तविकता है, जो राष्ट्र, समाज और व्यक्ति का चित्र यथातथ्य

1- प्रसाद साहित्य में आदर्श एवं नैतिक मूल्य - आचार्य उमेश शास्त्री भूमिका से,
2- नई कविता में वैयक्तिक चेतना - डा० अवध नारायण त्रिपाठी पृ० 28

रूप से चित्रित करती है । जब कलाकार जगत के अन्तर्बाह्य स्वरूप को कल्पना रहित, ज्यों का त्यों प्रस्तुत करता है तो यह उसकी "यथार्थ चेतना" कहलाती है । "हमारे सम्मुख जो कुछ घटित होता चलता है,उसमें पाप-पुण्य, सुख-दुख और धूप-छांव का मिश्रण रहता है । कलाकार उनमें से स्वर्णिम या काल्पनिक अंशों को काट-छांटकर इस धरती पर घटित सत्य या यथार्थ का जो चित्र प्रस्तुत करता है उससे उसकी "यथार्थ चेतना" का पता चलता है । "[1] यथार्थ चेतना वादी कलाकार मानता है कि साहित्य में सुन्दर के साथ साथ असुन्दर तथ्य का भी चित्रण होना आवश्यक है । "होना चाहिये" जैसे काल्पनिक मोह को त्याग कर "ऐसा है" के वास्तविक धरातल को उद्घाटित करने से ही समाज अपने सत्य रूप को देख सकता है । इसलिए वास्तव में यथार्थवादी साहित्य ही समाज का सही चित्र प्रस्तुत करता है । अत: स्पष्ट है कि आदर्श और यथार्थ एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी परस्पर घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं । "आदर्श चेतना" जहां निरपेक्ष जीवन पर बल देती है,वहीं "यथार्थ चेतना" सापेक्ष जीवन की ओर उन्मुख करती है । इसी दृष्टिकोण से प्रभावित हुआ समकालीन साहित्यकार मानवीय कमजोरियों, कुंठाओं व विकृतियों को निसंकोच उजागर कर रहा है । वह ईश्वर या उसके समकक्ष पहुंचे अलौकिक पात्रों को भी यथार्थ के धरातल पर परख रहा है । अपनी रचनाओं में वह आधुनिक परिस्थितियों से संघर्षरत मानव की जटिलताओं, विडम्बनाओं सहित अनेक असुन्दर पक्षों की अभिव्यक्ति नग्न व पैनी शब्दावलि में कर रहा है । और इसे अपना पुनीत कर्तव्य मानता है । यह "यथार्थ चेतना" व्यक्ति को भौतिकता व व्यावहारिकता की ओर प्रेरित करती है जिसमें बौद्धिकता का

1- नई कविता में वैयक्तिक चेतना- डा0 अवध नारायण त्रिपाठी -पृ0 28

आधिक्य होता है जो तर्क से सम्बद्ध होती है और तर्क यथार्थता से ।

व्यावहारिक चेतना :

"व्यावहारिक चेतना" एक ऐसी विचारधारा है जो व्यक्ति को युगानुरूप चिन्तन व दृष्टिकोण प्रदान करती है । यह मानवीय जीवन के क्रिया कलापों व आचारों-व्यवहारों में आदर्श तथा यथार्थ का सामंजस्य बनाये रखती है । व्यावहारिकता अपने क्षेत्र में प्रमाणिक होते हुए भी पूर्ण नहीं होती क्योंकि वह वस्तु सापेक्ष है । इसी लिए दार्शनिक व्यावहारिक ज्ञान को क्रिया स्वरूप मानते हैं, जो सत्य स्वरूप न होकर सत्य का पर्याय होता है ।

"व्यावहारिक चेतना" व्यक्ति को रूढ़ियों, अंधविश्वासों, सामाजिक एवं धार्मिक कुप्रथाओं, आडम्बरों से मुक्त करके उसे जागृत करती है और जीर्ण-शीर्ण अथवा अस्वस्थ परम्पराओं तथा मूल्यों को परिष्कृत कर उन्हें पुनर्स्थापित करती है । इसलिए समाज के विकास के लिए "व्यावहारिक वैयक्तिक चेतना" का विशेष महत्व है । इसके अभाव में देश व समाज में युगानुरूप मूल्य या विचार नहीं पनप सकते । उदाहरणार्थ - स्वतंत्रता पूर्व "तलाक" "विधवा विवाह" तथा "अन्जातीय विवाह" के समर्थन में कानून बन गये थे किन्तु "व्यावहारिक चेतना" के अभाव में उसे समाज में व्यावहारिक रूप नहीं मिल पाया था । इसलिए ये मात्र कानून बन कर ही रह गये । लेकिन युगीन परिवेश में इन्हें व्यावहारिक रूप मिलने लगा । और यह एक प्रगतिशील विचार-धारा समझी जाने लगी ।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि जब व्यक्ति अपने आचारों-विचारों, मान्यताओं व धारणाओं को युगानुरूप परिष्कृत करता जाता है, तो यह "व्यावहारिक वैयक्तिक चेतना" का परिचायक है । सम कालीन परिवेश में शिक्षा, पाश्चात्य प्रभाव, विज्ञान तथा संविधान ने इसको अत्यधिक प्रभावित किया है ।

भौतिक चेतना :-

जब "व्यावहारिक चेतना" "अर्थ" व "काम" को केन्द्र बिन्दु मानकर समस्त क्रिया कलापों को सम्पन्न करती है अर्थात् "अर्थ" और "काम" को सर्वोपरि मानती है तो वह भौतिक चेतना कहलाती है । भौतिक सुखों की प्राप्ति तथा दमित यौन कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति की ओर इसका झुकाव रहता है । वैज्ञानिकता के बढ़ते चरणों ने इसको अत्यधिक प्रश्रय दिया । "विज्ञान के व्यावहारिक उपयोग से संसार एवं यातायात की नई पद्धति- आर्थिक संगठनों की नई विधियों और नई राजनीति द्वारा भारत का रूप ही बदलता जा रहा था ।"[1] नारी स्वातंत्र्य भावना, चरमरातेधार्मिक एवं नैतिक मूल्य तथा यौन स्वतंत्रता आदि की भावना-"भौतिकवादी वैयक्तिक चेतना" की ओर बढ़ते कदमों की परिचायक है । यही कारण है कि वर्तमान जीवन में अनेकानेक परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं । "भौतिक चेतना" 'यथार्थ चेतना' से घनिष्ठ रूप से जुड़ी रहती है । किन्तु 'यथार्थ चेतना' के लिए आवश्यक नहीं है कि वह 'भौतिक चेतना' से सम्पृक्त हो, वह 'व्यावहारिक चेतना' से भी प्रभावित हो सकती है ।

निष्कर्ष :-

पूर्ववर्ती पृष्ठों में "वैयक्तिक चेतना" के वर्गीकरण के अन्तर्गत 'आदर्श चेतना', 'यथार्थ चेतना', 'व्यावहारिक चेतना' तथा 'भौतिक चेतना' का विवेचन प्रस्तुत किया गया । उनके सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि ये सभी "वैयक्तिक चेतना" के निर्माण एवं विकास मेंसहायक होती हैं । 'आदर्श चेतना' व्यक्ति को मानसिक शान्ति प्रदान करती हुई उसमें उत्साह

1- आधुनिक भारतीय चिन्तन - डा० विश्वनाथ नवर्णे - पृ० 15

का संचार करती है । जबकि "यथार्थ चेतना" व्यक्ति की कमजोर स्थिति ,समाज के असुन्दर पक्ष को भी उद्घाटित करती है । "व्यवहारिक चेतना" "आदर्श चेतना" की क्रिया स्थली है ,बिना इसके "आदर्श चेतना" खोखली मानसिकता मात्र रह जाती है । किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि "व्यावहारिक चेतना" केवल आदर्श से ही प्रभावित होती है । यह "यथार्थ चेतना" से सम्बद्ध भी हो सकती है । और समकालीन परिस्थितियों में तो "व्यावहारिक चेतना" यथार्थ और भौतिकता की ओर झुकी हुई दृष्टिगत हो रही है । आधुनिक व्यक्ति भौतिक सुख-साधनों की प्राप्ति की होड़ में "अर्थ" के पीछे दौड़ रहा है और एन्द्रिक तुष्टि हेतु अमर्यादित "काम" वासना में लिप्त हो रहा है ।

उपर्युक्त विभाजन में यद्यपि "आदर्श चेतना" के अन्तर्गत "व्यावहारिक चेतना" और "यथार्थ चेतना" में "भौतिक चेतना" समाहित हो सकती है, तथापि इसमें सूक्ष्म मूलभूत भिन्नता होने के कारण इनको उक्त चार कोटियों में वर्गीकृत किया गया है । इसी वर्गीकरण के आधार पर शोध कृतियों का विश्लेषण किया जायेगा ।

पूर्ववर्त्ती विवेचन में इस तथ्य को स्पष्ट किया जा चुका है कि जब व्यक्ति "आदर्श चेतना" से कट कर "यथार्थ चेतना" या "व्यावहारिक चेतना" या "भौतिक चेतना" से प्रभावित होता है तो उसके आचारों-विचारों तथा गतिविधियों में परिवर्तन आने लगता है ,जिसका पारिवारिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ता है ।

वैयक्तिक चेतना से प्रभावित परिवार :-

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और वह अपनी अनेक आकांक्षाओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति समाज में ही रहकर करता है । किन्तु जन्म वह परिवार में लेता है तथा समस्त आचार-विचार, कार्य-कलाप तथा संस्कार उससे ही ग्रहण करता है । वह परिवार में रहकर अपने व्यक्तित्व का विकास करता हुआ समाज के प्रति अपने दायित्व को पूरा करता है । वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा वह (व्यक्ति) सामाजिक कर्तव्यों, सेवाभाव, रीति-रिवाजों, सामाजिक मान्यताओं का निर्वाह करता है। व्यक्ति परिवार के द्वारा अपनी संस्कृति व सभ्यता को विरासत के रूप में प्राप्त करता है । इस प्रकार वह स्वयं को मर्यादित तथा परिष्कृत कर विकासोन्मुख होता है । तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक पारिवारिक सम्बन्धों में बंधा रहता है ।

परिवार व्यक्ति की जन्म और विकास की स्थली है । इसमें माता-पिता ,बच्चे, पति-पत्नी, नौकर आदि सम्मिलित रूप से रहते हैं । इस प्रकार परिवार एक सार्वभौमिक इकाई है । परिवार को स्थायित्व प्रदान करने के लिए पति-पत्नी दोनों ही अनिवार्य अंग हैं और समाज ने यौन संबंधी इच्छा पूर्ति को पति-पत्नी के मध्य सामाजिक तथा धार्मिक कृत्य स्वीकार किया है । इसलिए परिवार में सन्तान का सम्बन्ध रक्त से माना जाता है । पति, परिवार की आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक प्रतिष्ठा और वंश परम्पराओं का निर्वाह करता है , और पत्नी गृहस्थी की देखभाल , सन्तान का लालन पालन तथा घर की आन्तरिक व्यवस्था का संचालन करती है । इसलिए परिवार में पति-पत्नी के सम्बन्ध प्रेम, दया, त्याग, विश्वास, धैर्य व सहानुभूति की मानसिकता के आधार पर सुदृढ़ बने रहते हैं । और परिवार के अन्य सभी सदस्य भी भावनात्मक एकता के सूत्र में बंधे रहते हैं ।

स्वतंत्रता पूर्व के काल में संयुक्त परिवार सामाजिक आदर्शों, मान्यताओं तथा जीवन मूल्यों की दृष्टि से प्रतिष्ठा के प्रतीक माने जाते थे । संयुक्त परिवार के सभी सदस्य अपने अपने दायित्व को समझते और उसका समुचित निर्वाह करते । परिवार की बागडोर बुजुर्ग सदस्य के हाथ में रहती और सभी उसकी आज्ञा का पालन करते । इस प्रकार संयुक्त परिवार के सभी सदस्य एक समूह में रहते हुए भी अपने अस्तित्व को बनाये रहते । परन्तु समस्त परिवार के कल्याण के समक्ष व्यक्ति को गौण समझा जाता था । किन्तु ज्यों ज्यों औद्योगिक प्रगति,यातायात तथा आधुनिक शिक्षा से उत्पन्न बौद्धिकता का विकास होता गया, त्यों त्यों उत्तरोत्तर विकसित होती "वैयक्तिक चेतना" से "परिवार" भी प्रभावित हुए बिना रह सका । भारतीय समाज में स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ समय बाद तक संयुक्त परिवार अपने अस्तित्व को बनाये हुए थे, लेकिन शनै:शनै: इनकी संख्या का ह्रास होता गया गत दो दशकों के दौरान संयुक्त परिवार की प्रथा लुप्त सी हो गई है । "परिवार" विस्तृत क्षेत्र से सिमट कर संकुचित होते गये और "व्यक्ति" सीमित दायरों से निकलकर विस्तृत क्षेत्र की ओर अग्रसर होने लगा । समकालीन विघटन कारी प्रवृत्तियों ने संयुक्त परिवार का विभाजन तो किया ही साथ ही लघु परिवार भी इनकी चपेट में आते जा रहे हैं। क्योंकि सम - सामयिक परिवेश गत जटिलताओं व विषमताओं ने "वैयक्तिक चेतना" को अहम्‌वादी भावना से सम्पृक्त कर दिया है । परिणामत: पति-पत्नी के बीच का माधुर्य,विश्वास, त्याग क्षीण होता जा रहा है और इसके स्थान पर अजनबीपन,शंका,अनास्था तथा स्वार्थ भावना के कंटक उग आये हैं - परिवार की मर्यादा तथा पति-पत्नी व सन्तान के संबंधों पर प्रश्न चिन्ह लग गये हैं । पारिवारिक जीवन और वैयक्तिक चेतना के संबंध का विस्तृत विवेचन आगे के अध्यायों में किया जायेगा ।

अत: स्पष्ट हो जाता है कि परिवार समाज व राष्ट्र के विकास

में महत्वपूर्ण योगदान देने वाली "वैयक्तिक चेतना" "स्व" के घेरे में सिमटने लगी है । इसके इस परिवर्तित रूप ने देश, समाज व परिवार के प्रत्येक पक्ष को आलोड़ित किया है । समकालीन व्यक्तिकेवेल अपने लिए ही जीने की प्रक्रिया से गुजर रहा है ।

मूल्यांकन

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय के समग्रत: मूल्यांकन के आधार पर कहा जा सकता है कि "चेतना" व्यक्ति की वह प्रेरक या जीवनी शक्ति है, जो व्यक्ति मात्र को अभावों की पूर्ति की ओर अग्रसर करती है । भारतीय और पाश्चात्य विद्वान् इस "चेतना" को विभिन्न दृष्टिकोणों से परखते हुए विविध रूपों में स्वीकार करते हैं । इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय साहित्य और समाज में 'चेतना' का आध्यात्मिक रूप अधिक दृष्टिगोचर होता है । जबकि पाश्चात्य विद्वानों ने इससे पहले ही भौतिक धरातल पर स्वीकार कर लिया था ।

"वैयक्तिक चेतना" के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि "चेतना" सामाजिकता से कटकर व्यक्ति मात्र तक सीमित हो जाती है । तो वह "चेतना" की संज्ञा धारण कर लेती है । लेकिन इसका अभिप्राय: यह नहीं है कि वह सामाजिक मूल्यों की विरोधी होती हैं, अपितु यह सामाजिक मूल्यों, परम्पराओं तथा संस्कृति को परिष्कृत करती हुई देश व समाज को गतिशील करती है । आधुनिक साहित्य में प्रतिबिम्बित यह "व्यक्ति चेतना" आधुनिक युग की देन नहीं है वरन् सदियों से व्यक्ति में निहित यह "चेतना" साहित्य में भी यत्र तत्र रूप झलकती रही है । यह बात दूसरी है कि तद्युगीन "व्यक्ति चेतना" आदर्श व सामाजिकता के अधिक निकट थी, जबकि समकालीन "व्यक्ति चेतना" भौतिकता तथा यथार्थता से प्रभावित है । यह 'चेतना' आज व्यक्ति पर ही केन्द्रीय भूत होती जा

रही है अर्थात् 'व्यक्तिवादी चेतना' की ओर उन्मुख होती जा रही है। यही कारण है कि आधुनिक व्यक्ति वैयक्तिक स्वतंत्रता, स्वेच्छाचारी तथा स्वाभिमान आदि के आधार पर पारिवारिक ,सामाजिक,नैतिक धार्मिक मूल्यों तथा मान्यताओं पर प्रश्न चिन्ह लगा रहा है। स्वार्थान्धता, अहंभाव आदि ने उसके पारिवारिक जीवन को विविध विषमताओं से भर दिया है। आधुनिक व्यक्ति चेतना ने पारिवारिक जीवन को किस सीमा तक प्रभावित किया है। इसका विस्तृत विवेचन द्वितीय अध्याय में किया जायेगा।

-::-